भारतीयता की खोज

विद्यानिवास मिश्र

भारतीय होने का क्या अर्थ है, इस पर लोगों ने तब से ज्यादा सोचना शुरू किया जब से राष्ट्रीय नागरिकता और भारतीयता को पर्याय मानने का भ्रम पैदा हुआ, नहीं तो भारतीयता भीतर भिना हुआ भाव है, लबादा नहीं। यह भ्रम यूरोप की औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ विकसित 'नेशन' की अवधारणा का प्रतिक्षेप था। वस्तुत: राष्ट्र और नेशन दो अवधारणाएँ हैं, मूलत: भिन्न हैं। राष्ट्र का अर्थ हे सुशोभित होने का साधन और सुशोभित होने का अर्थ ही है सबके साथ समंजस रहना, एक-दूसरे का पूरक रहना। नेशन शब्द नस्ल से या प्रजाति से जुड़ा हुआ है, उसमें अलग हित, अलग अधिकार की बात निहित है। राष्ट्र भूगोलवाची शब्द भी नही, संस्कृतिवाची जरूर है। संस्कृति का अकेले भूगोल, अकेले इतिहास, अकेले मानव समुदाय से ही सरोकार नहीं होता, वह इन सबसे होता है और मनुष्य के मन में सदियों-सदियों साथ रहने और एक-दूसरे का सुख-दु:ख बँटाने के कारण कुछ संस्कार पड़ते हैं, कुछ स्मृतियाँ तह की तह बैठती जाती हैं, कुछ अभिप्रेरक मूल्य घर करते जाते हैं, संस्कृति इन सबका निथरा हुआ प्रवाहशील रस है। भारतीय संस्कृति जिन मूल्यों से परिचालित होती रही है, उनमें समस्त प्राणियों का कल्याण, सत्य की खोज, सबकी मुक्ति की चाह - ये प्रमुख हैं।

इसी कारण यूनानी, पारसीक, शक, हूण ये सभी इस विशाल संस्कृतिधारा में घुलते गए। उनकी छाप निश्चित पड़ी, पर उनकी कोई अलग अस्मिता नहीं रह गई। भारत में नस्लों का घुलना-मिलना प्रागैतिहासिक काल में हो गया, इसलिए नस्लों का बोध नहीं रहा, क्षेत्रों का बोध था, क्षेत्रीय विशिष्ट रीतियों का बोध था, पर नस्लों का बोध नहीं था। वर्ण भी रंग नहीं हैं। वह स्थान चुनना है। अंग्रेजों के आने के पहले देश में हिन्दू-मुसलमान के बीच खाई नहीं खुदी थी। लड़ाई बाहरी और भीतरी लोगों के बीच थी। बाबर के खिलाफ राणा साँगा की सेना मे मुसलमान सिपाही लगभग हिन्दू सिपाहियों के बराबर थे। शिवाजी और औरंगजेब के बीच की लड़ाइयों में दोनों ओर हिन्दू-मुसलमान थे। अब्दाली और नादिरशाह के खिलाफ भी हिन्दू-मुसलमान दोनों एकजुट थे। यह स्थिति 1857 के स्वाधीनता संग्राम तक बराबर बनी रही, उसके बाद जरूर बदलाव हुआ।

हमने तथाकथित पुनर्जागरण की झोंक में भारतीय राष्ट्रीयता की बात शुरू की, पर सही भारतीयता की पहचान हमने नयी परिस्थितियों में आगे नहीं बढ़ायी। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ख्वाजा अहमद गाँव में अवधी में प्रेमकहानी लिखकर सुनाकर गाँव-गाँव का मन मोह रहे थे, सैकड़ों योगी सारंगी पर तमाम ऐसी साझेदारी की कहानियाँ सुना रहे थे, सैकड़ों डफली पर निर्गुण के पद गाँव-गाँव सुना रहे थे। ब्रिटिश प्रशासन भी सराबोर रहे बिना नहीं रहा। मथुरा में कलक्टर रहते हुए ग्राउज ने ब्रजभाषा काव्य गोष्ठी शुरू की, स्वयं भी लिखा, रामचरितमानस का अनुवाद किया, मथुरा संग्रहालय की स्थापना की। फारसी का साहित्य सबसे अधिक मुंशी नवलकिशोर ने उन्नीसवीं सदी में छापा। अन्दरूनी एकता की पहचान खोयी नहीं थी, परन्तु कुछ चक्र ऐसा चला कि हिन्दू-मुसलमान दो हैं, दो राष्ट्र हैं, आर्य, द्रविड़, कोल, किरात चार नस्लें हैं, चार संस्कृतियाँ हैं, हिन्दुस्तान भेदों का भवजाल है, ऐसी धारणाएँ पनपने लगीं, और भारतीयता, सही भारतीयता, खोती चली गयी।

जो खो जाता है, उसकी तलाश बहुत होती है। इसलिए तलाश शुरू हुई, यह इंडियन, यह भारतीय क्या है। केवल एक क्षेत्र विशेष का निवासी है, नागरिक है या कुछ और। जहाँ कुछ और परिभाषित करने का प्रश्न उठा, वहीं मन में कई प्रकार के चोर पैठे, अगर रामचरित मानस को भारतीयता का ग्रन्थ कहेंगे तो भारतीयता छोटी हो जायेगी, राम-कृष्ण की कथाओं को भारतीय कहेंगे तो भी कुछ डर है। ऐसे लोगों ने सोचने की जरूरत नहीं समझी कि काटना भारतीयता नही है, समेटना और समेटकर बड़ा होना भारतीयता है। भारतीयता की गंगा में अनेक स्रोतों के जल मिले हैं, उसमें असंख्य-असंख्य लोगों को पोषित करने की क्षमता है। असंख्य-असंख्य लोगों के प्यार से वह नदी आगे बढ़ती रही है। हमारी सम्पदा अकूत है, जो भी इतने लम्बे अर्से में संगृहीत हुआ, विकसित हुआ, एक-दूसरे को प्रभावित करने में समर्थ हुआ, वह सब हमारा है या और ठीक कहें, हम उन सबके है। इसमें वेद, त्रिपिटक, जैनआगम, पुराण, काव्य, दर्शन के अलावा यूनानी, अरबी, ताजिकीय ज्ञान विज्ञान, फारसी काव्य, तिरुक्कुरल, तोल्काप्पियं, गिरिजनों और घुमंतुओं के आख्यान गीत, असंख्य लोककथाएँ, भिन्न-भिन्न भाषाओं में कविताएँ, अनेक शैलियों के चित्र और स्थापत्य, भारत के साथ जुड़े हुए विचार (विदेशी या स्वदेशी) – सब सम्मिलित हैं। किसी एक को भी काटकर अलग करना उचित नहीं है। ये सभी संवादी हैं। एक-दूसरे से भिन्न दिखते हुए एक-दूसरे से जुडने और छेड़खानी करने के लिए लाचार हैं। एक-दूसरे के बिना इनका काम नही चल सकता। यह सोचते तो हम एकसूत्रता ढूँढते, भेद को इतनी प्रमुखता नहीं देते, न एकरूपता में सिमटी हुई 'एकता' को ।

देश के बंटवारे के बाद, एक अत्यंत दुःखद त्रासदी से गुजरने के बाद भी हमने सीखा नहीं, उधार ली हुई राष्ट्रीयता ढोते रहे। हमारे अपने मज्जागत संस्कारों में भारतीयता है, जो अभी भी निरक्षर, पर संस्कारी मन में मौजूद है, उसे अनदेखा करते रहे। हम भीरु हो गये हैं, समग्र की बात नहीं कर सकते, हमारे लिए समग्र बहुत-सी चीजों का योग है, समग्र सबसे कुछ अलग है जो सबमें है, पर सबसे अलग है, क्योंकि वह सब होने का भाव है, अलग-अलग दिखने या पहचाने जाने का भाव नहीं—चिश्ती के मजार पर मनौती मानने वालों का मजहब कोई अलग कर सकता है! मजहब के आधार पर क्या उस्ताद अलाउद्दीन खाँ को मेहर की शारदा से अलग किया जा सकता है। एक क्षेत्र के गाँव का आदमी दूर भारत के दूसरे क्षेत्र के गाँव में जाता है, भाषा अलग है, नहीं समझ आती, पर देखता है गाँव तो वैसा ही है, बैलगाड़ी का पहिया वही है, कुम्हार का चाक वही है, हल वही है, घरों की छाजन वैसी ही है, वैसे ही शाम को दरवाजे पर रोशनी करने का रिवाज है। नहाना-धोना, खाना-पीना, बैठना-चलना एक है, वह आत्मीयता ही सब जगह पाता है। उसके मन में इतिहास का कोई द्वन्द्व नहीं। कौन पहले कौन बाद में ऐसा कुछ नहीं। यह तो हम साक्षरों के मन में है, इनका इतिहास अलग, हमारा इतिहास अलग, इनका हमारा संगम जरूर हुआ, पर हमारे बुनियादी अंतर हैं, इन अंतरों को सजीव रखना चाहिए। बेरियर एलविन की सलाह पर आदिवासी अस्मिता का अलगाव सुरक्षित किया गया, जो एक सहज रूप में घुलन-मिलन शुरू हुआ था, उसमें ठहराव आया, कितनी कहानियाँ कहाँ से कहाँ पहुँचीं, इसकी तलाश हमारे लोक ने नहीं की, उसने तो कहानियों को अपनी माना, चाहे वह कहानी राम की हो चाहे वह बलि राजा की हो।

भारतीयता की तलाश में बाधक है हमारी कुशिक्षा का कुसंस्कार। यह सही है कि यह कुसंस्कार भी बहुत कुछ अपना हिस्सा बन गया है, इससे अलग कोई नहीं होता। जो लोग राम की ऐतिहासिकता की बात उठाते हैं और इतिहास के स्थूल प्रमाण के बारे में लड़ते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि राम इतिहास नहीं, देश के वर्तमान हैं और उसी अर्थ में हसन अली की कुर्बानी भी इतिहास नहीं, वर्तमान है। इतनी संकीर्णता हमारे मनों पर छाती जा रही है उसका सबसे बड़ा कारण है—अपने का सही और दूसरे को कुछ कम सही, साथ ही यह भी खोजकर पायी गयी हर मानवीय सरणि भी उतनी ही सही है, पूरी सही भले न हो और पूरे सही तो हम भी नहीं हैं।

मजहब आदमी की जरूरत है, इसमें कोई संदेह नहीं, कहीं न कहीं टिकाव चाहिए पर आदमी टिकाव ही तो नहीं है, वह निरन्तर यात्रा भी तो है, निरन्तर यात्रा के लिए एक मजहबों के मजहब की जरूरत पड़ती है। कुछ प्रथम सिद्धांतों की ओर जाना होता है, जिनसे सृष्टि चलती है, जिनसे सृष्टि के आगे चलने का भरोसा रहता है। हमारे यहाँ इसे प्रथम धर्म कहा गया है। अन्य विश्वासों में भी 'फिलोसोफिया पेरनिम' की बात की गयी, बौद्धों-जैनों में 'सनन्तन धम्म' की बात की गयी। यह बात आज स्पष्ट हो तो आदमी अंधराने से बच जाये।

अंधधार्मिकता का प्रयोग होता है पर वस्तुत: उचित शब्द है मतान्धता, क्योंकि धर्म तो विशालतर अर्थ रखता है, वह समस्त सृष्टि का संचालक और संभारक है, मत धर्म की अपेक्षा कुछ छोटा है, मत यद्यपि धर्म के साधन के लिए ही है, पर वह साध्य नहीं है। ईश्वर प्राप्ति के लिए कुछ पढ़ना है, कुछ जपना है, कुछ और कर्मकाण्ड करना है, पर ईश्वर को पाने के और उपाय हैं, वे भी अपनी जगह ठीक हैं, क्योंकि ईश्वर पर सबका अधिकार है। जिन्हें ईश्वर में आस्था नहीं है, उन्हें भी सबकी मुक्ति पाने के लिए प्रयास करना है। अपने क्षुद्र 'स्व' के बाहर जाकर विशाल आत्मीयता की पहचान करनी है, वे भी अपनी जगह सही हैं। ऐसी दृष्टि जब खो जाती है तो वह मतान्ध हो जाता है। आस्तिक मतान्ध भी होते हैं, नास्तिक मतान्ध भी। छोटे से निजी अहंकार की सुरक्षा के लिए हम मतों का उपयोग घरौंदे के रूप में करते हैं तो हम और छोटे हो जाते हैं, पर मतों का उपयोग यदि हम द्वार के रूप में करते हैं तो हमें सभी द्वार अपने स्थान से ठीक ही लगते हैं। दु:ख की बात यह है कि यह मतान्धता अनपढ़ लोगों में कम है, कहने के लिए पढे-लिखे पर संस्कार वंचित लोगों में ज्यादा है, उनमें और ज्यादा है, जो अपने को बुद्धिवादी कहते हैं, धर्मनिरपेक्ष कहते हैं, जबकि शुद्ध रूप से अपनी हैसियत के सापेक्ष हैं।

साम्प्रदायिकता अलग-अलग सम्प्रदायों के स्वातंत्र्य के अस्वीकार में उपजती है। यदि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की आचार -पद्धति को उतनी दूर तक सम्मान दे, जितनी वह घृणा - द्वेष से प्रेरित नहीं है तो सम्प्रदाय रहें भी, साम्प्रदायिकता नहीं पनपेगी। साम्प्रदायिकता हमारे यहाँ घृणा से कम, भय से अधिक पनपी है। इस भय को दूर करना आज की सबसे बड़ी समस्या है। भारतीयता की खोज की यही सही पहचान होगी कि हम यह भय दूर कर सकें।

वेदों की बात करता हूँ तो वहाँ मिलता है जैसे पृथ्वी और अंतरिक्ष डरते नही, उदास नहीं होते, वैसे ही मेरे प्राण डरो मत, उदास मत हो :

यथा पृथिवी चान्तरिक्षं च न विभीतो न रिष्यतः ।
एवा में प्राण मा बिभेरेवा में प्राण मा रिषः ।।

यही शिक्षा बुद्ध ने, महावीर ने, अपनी विकट यात्राओं के द्वारा दी, यही शिक्षा हमारे संतों ने दी, हमारे ही जीवनकाल में महात्मा गांधी ने दी। भारतीयता का यही लक्षण है, मनुष्य प्रकृति से न डरे, प्रकृति हमारी शत्रु नहीं, वन से न डरे, रात से न डरे, ये सभी हमारे सुख-दु:ख के साथी हैं, मनुष्य मनुष्य से न डरे, दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति के भीतर सोयी हुई आत्मीयता को पुकारता रहे। बहुत कुछ गलत कहा जा रहा है और उसके विरोध में इसलिए नहीं कोई कुछ कहता कि इससे डरावनी शांति भंग होगी। लगता है हमारे नैतिक साहस को लकवा मार गया है। हमारा बौद्धिक मन निर्द्वन्द्व नहीं है, द्वन्द्व में फँसे मन से भारतीयता की जो खोज होगी वह बहुत सतही होगी और उस खोज से कुछ भी नहीं सधेगा, न धन न धरम!

वास्तविक खोज के लिए मन खुला और निर्भय होना चाहिए और जो कहे उसका फल भुगतने की तैयारी चाहिए। साथ ही, निर्भय होकर कहने का अर्थ- चोट पहुँचाना नहीं, नश्तर लगाना कभी-कभी जरूरी हो जाता है। भय मिटाने से ही सही और व्यापक पहचान बनती है और बनेगी।

(यह लेख विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक "रथयात्रा" से लिया गया है।)